अभिशाप

क्या शरीर है ? शुष्क धूल का थोड़ा-सा छवि जाल ।
उस छवि में ही छिपा हुआ है, वह भीषण कंकाल ॥

कुमारि एम०-ए०

अभिशाप

प्रोफ़ेसर

श्री रामकुमार वर्मा एम० ए०
"कुमार"

ओझाबन्धु आश्रम, इलाहाबाद

प्रकाशक

श्रीचन्द्रशेखर शास्त्री

ओझाबन्धु आश्रम, इलाहाबाद

पहिलीबार—एक हज़ार

मुद्रक

काव्यतीर्थ पं० विश्वम्भरनाथ वाजपेयी

ओंकार प्रेस, प्रयाग

प्रलय-पीड़ा से कर शृंगार,
अमर हो यह मेरा अभिशाप ।

[उसे]

देता हूँ अभिशाप, मान ले,
वह इसको उपहार ।

[जिसने]

अश्रु-विन्दु में डुबा दिया है,
सोने का संसार ॥

परिचय

—:o:—

हाय ! सिसकती-सी वर्षा में,
यह गूँथा है हार।
समता करने को बरसातीं-
हैं आँखें जल-धार ॥

आँखों में जल है, ऊपर से,
भी है जल का स्राव।
हिम-से शीतल बन कर गिरते,
मन के भारी भाव ॥

'छल-छल' कर जल गिरता, पर मन जल-जल कर है धूल।
उस पर हँसते हैं नभ के मिटते-से दो-दस फूल ॥

अभिशाप

अभिशाप
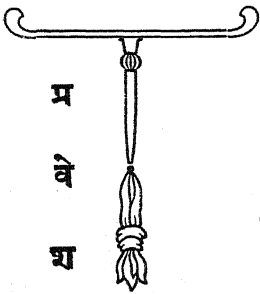
केशों का कमनीय कुसुम से
करती हूँ शृंगार,
लतिका का यौवन माँगा है,
मैंने हाथ पसार;

कवि, वीणा में मेरी छवि का
स्वर भर दो इस बार,
एक उमङ्ग उठी है, उस पर,
कर लेने दो प्यार;

आह ! देखना टूट न जावे, अति द्रुत गति से तार।
बहुत दिनों के बाद कर रही हूँ अपना शृङ्गार॥ १०

ओस-विन्दु पीकर जीवित थे,
ये प्रसून सुकुमार,
मेरे नीरस केशों से
कैसे कर लेंगे प्यार ?
पल्लव सुमन बीच कलिकामय
निर्मित है यह हार,
दो दुष्टों के बीच किया है,
अबला का शृङ्गार !

अरे, तोड़ दो हार, तोड़ दो वीणा के सब तार।
बिखरी कलियों से कर लूँगी, मैं अपना शृङ्गार॥ २०

अभिशाप
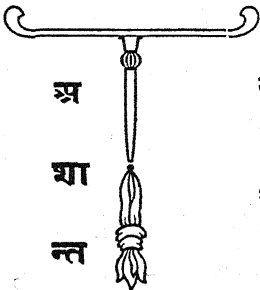
नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ,
आज अनश्वर गीत ?
जीवन की इस प्रथम हार में,
कैसे देखूँ जीत ?

उषा अभी सुकुमार; तृणों में—
होगी वही सतेज,
लता बनेगी ओस बिन्दु की
सरल मृत्यु की सेज;

कह सकता है कौन, देखता हूँ मैं भी चुपचाप।
किसका गायन बने न जाने मेरे प्रति अभिशाप॥ १०

क्या है अन्तिम लक्ष्य—
निराशा के पथ का?—अज्ञात!
दिन को क्यों लपेट देती है
श्याम वस्त्र में रात?
और, काँच के टुकड़े बिखरा—
कर क्यों पथ के बीच,
भूले हुए पथिक-शशि को दुख—
देता है नभ नीच?

यही निराशामय उलझन है, क्या माया का जाल?
यहाँ लता में लिपटा रहता छिपकर भीषण व्याल॥ २०

देख रहा हूँ बहुत दूर पर,
शान्ति-रश्मि की रेख,
उस प्रकाश से मैं अशान्त-तम—
ही सकता हूँ देख;
काँप रही स्वर-अनिल-लहर
रह-रह कर अधिक सरोष,
डर कर निरपराध मन अपने—
ही को देता दोष!

कैसा है अन्याय? न्याय का स्वप्न देखना पाप!
मेरा ही आनन्द बन रहा, मेरा ही सन्ताप॥ ३०

हास्य कहाँ है? उसमें भी है,
रोदन का परिणाम,
प्रेम कहाँ है? घृणा उसी में
करती है विश्राम;
दया कहाँ है? दूषित उसको—
करता रहता रोष,
पुण्य कहाँ है? उसमें भी तो—
छिपा हुआ है दोष;

अभिशाप

धूल हाय ! बनने ही को, खिलता है फूल अनूप।
वह विकास मुरझा जाने ही का पहिला रूप ॥ ४०

मेरे दुख में प्रकृति न देती
क्षण भर मेरा साथ,
उठा शून्य में रह जाता है,
मेरा भिक्षुक-हाथ;
मेरे निकट शिलाएँ, पाकर
मेरा श्वास-प्रवाह,
बड़ी देर तक गुञ्जित करती—
रहतीं मेरी आह ;

"मर-मर" शब्दों में हँस कर, पत्ते हो जाते मौन।
भूल रहा हूँ स्वयं, इस समय मैं हूँ जग में कौन ? ५०

वह सरिता है—चली जा रही—
है चञ्चल अविराम,
थकी हुई लहरों को देते,
दोनों तट विश्राम;

मैं भी तो चलता रहता हूँ
निशिदिन आठों याम,
नहीं सुना मेरे भावों ने,
'शान्ति-शान्ति' का नाम ;

लहरों को अपने अंगों में तट कर लेता लीन।
लीन करेगा कौन ? अरे, यह मेरा हृदय मलीन !! ६०

अभिशाप
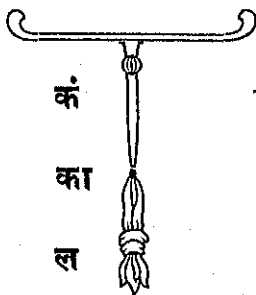
कंकाल

क्या शरीर है? शुष्क धूल का—
थोड़ा सा छवि जाल,
उस छवि में ही छिपा हुआ है
वह भीषण कंकाल;

उस पर इतना गर्व ? अरे,
इतने गौरव की गान,
थोड़ी-सी मदिरा है, उस पर,
सीखा है बलिदान ;

मदमाती आँखोंवाले, ओ ! ठहर, अरे नादान !!
एक-फूलकी माला है उस पर इतना अभिमान ? १०

इस यौवन के इन्द्र-धनुष में
भरा वासना-रंग,
काले बादल की छाया में,
सजता है यह ढंग,
और उमंगों में भूला है
बन कर एक उमंग,
एक टूटता-स्वप्न आँख में
कहता उसे 'अनंग'-

वह 'अनंग' जो धूल-कणों में भरता है उन्माद।
जर्जरपन में भी ले आता नवयौवन की याद ॥ २०

और, (याद आया अब)—
मृगनयनी का नयन-विलास,
हँसती और लजाती थी—
चितवन कानों के पास;
गोल गुलाबी गालों में—
भरकर ऊषा का रंग,
पैना तीर चला चितवन का,
करती थी भ्रू-भंग;

मैंने देखा था उसमें, गिरते—फूलों का ह्रास
संध्या के काले अंबर में मिटता अरुण-विकास ॥ ३०

दूर ! दूर !!—मत भरो कान में,
वह मतवाला राग,
यही चाहते हो मैं कर लूँ
इस जग से अनुराग ?
गिरते हुए फूल से कर लूँ
क्या अपना शृंगार ?
करने को कहते हो मुझसे,
निश्चल शव से प्यार !

गिन डालूँ कितनी आहों में अपने मनके भाव ?
पथराई आँखों से कैसे देखूँ विष का स्राव !! ४९

अरे, सत्य की भाषा ही में
क्यों कहते हो पाप ?
क्षणिक सुखों की नींवों पर
क्यों उठा रहे सन्ताप ?
सुमन-रंगसे किस आशा पर
करते अमर विहार ?
ओस-कणों में देख रहे—
सारे नभ का शृङ्गार ?

प्यार-प्यार क्यों प्यार कर रहे नश्वरता से प्यार ?
यहाँ जीत में छिपी हुई है इस जीवन की हार ॥ ५०

मृत्यु वही है, जिसमें होती,
जीवित क्षण की हार,
वे ही क्षण क्यों भाग रहे हैं
वर्तमान के पार ?

मेरे आगे ही, मेरे
जीवन का नाश विलास,
झाँक शुष्कता रही चोर-सी,
हृदय सुमन के पास;

जीवन-आभा बनती जाती दिन-दिन अधिक मलीन।
अंधकार में भी बनता हूँ मैं लोचन से हीन॥ ६०

भूल रहा हूँ पाकर स्मृति की,
चंचल एक हिलोर,
देख रहा हूँ मैं जीवन के
किसी दूसरी ओर;
हाँ, वह यौवन-लाली करती
जीवन-सुमन विहार,
मादकता में धूल-कणों से—
भी करती थी प्यार;

शुष्क पत्तियों से भी करती आलिङ्गन का हाव।
मतवाले बन-बन कर आते, मनके नीरस भाव॥ ७०

काले भावों की रजनी में
आशा का अभिसार,
मैंने छिप कर देखा था,
देखा था कितनी बार;
उनका आना और समुत्सुक—
मेरे मन का प्यार,
दोनों भाव बना देते थे
लज्जित लोचन चार;

किन्तु, मुझे क्या मिलता था ? क्या बतला दूँ उपहार ?
शीतल ओठों का मुरझाया-सा चुम्बन उस बार ॥ ८०

उत्सुकता के बदले में यह
भीषण अत्याचार ?
घृणा, घृणा शत-जिह्वा से
डसती थी बारम्बार;
आँखों की मदिरा का बन जाना
आँसू की धार,
बाहु-पाश का शक्ति-हीन हो
गिरना धनुषाकार;

यह था क्या उपहार, अरे इस जीवन का उपहार !
फूल-रूप क्यों रखता है यह धूल-रूप संसार ? ९०

छविमय कहते हो जिसको
जिसमें है रूप अपार,
हाय ! भरा है उसमें कितने,
पापों का संसार !
पहिन रहे हो हार,
उसीमें भूल रही है हार,
पुण्य मानकर क्यों करते हो,
इन पापों से प्यार ?

मुझे न छूना, जतलाओ मत अपना झूठा प्यार।
धूल समझकर छोड़ चुका हूँ यह कलुषित संसार ॥ १००

अभिशाप
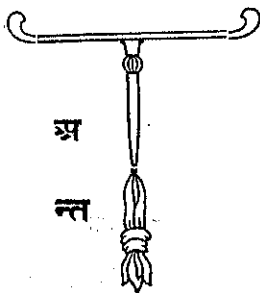
किन भीगी आँखों की पलकों—

में करती है वास ?

किन आँसू की बूँदों से

तेरी बुझती है प्यास ?

अरी वेदने ! सिखलाया है
किसने राग विहाग ?
जला रही आकाश सभी, ले
पूर्व-दिशा की आग ;

क्यों करने आई है मुझ से, चिरसंचित अनुराग ?
ऐ अनन्त यौवन वाली ! तू बार बार मत जाग ॥ १०

मेरा हृदय भग्न है उसके
टूटे हैं सब द्वार,
भाग गया है उससे
रोका हुआ अतिथि-सा प्यार ;
वृद्धा आशा के जीवन के—
लघु दिन हैं दो चार,
नित्य निराशाके विष से मैं
करता हूँ उपचार।

पड़ा हुआ है मृत-सा भू पर, जीवन-दीप-प्रकाश।
अरी वेदने ! बिखर रहा है उस पर तेरा हास !! २०